ॐ श्री परमात्मने नमः

प्रथम अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।।१।।

धृतराष्ट्र ने कहा- हे संजय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्र हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने भी क्या किया?

गीता के आरंभ में, भगवान का वास्तविक उपदेश आरंभ होने के पहले महाभारत के युद्ध की नाटकीय पृष्ठभूमि का वर्णन किया गया है क्योंकि गीता का उपदेश किस परिस्थिति में, शिष्य की किस मनःस्थिति में दिया गया इसे समझना बहुत जरूरी है। यह पृष्ठभूमि ही गीता की व्यवहारिकता को प्रतिपादित करती है। इससे हमारे मन में यह बात आ जाती है आत्मा परमात्मा की बातें केवल वृद्धावस्था में, जब शरीर साथ देना बंद कर दे, तभी करने की नहीं। धर्म तो वह विज्ञान है जो जीवन में पग-पग पर हमें सही राह दिखाता है। यह विज्ञान जीवन के अन्तिम मोड़ पर क्या काम आयेगा? जीवन का विज्ञान, जीने की कला तो कर्मक्षेत्र में कूदने से पहले ही जानने की विद्या है। धर्म हमें डर कर भागना नहीं, युद्ध करना सिखाता है। युद्ध -अपनी अपनी दुष्प्रवृतियों से, युद्ध- समाज की बुराई, अत्याचार, दमन और शोषण से। इसी पृष्ठभूमि की योजना धृतराष्ट्र के इस प्रश्न से आरंभ होती है कि युद्ध भूमि में कौरवों और पाण्डवों ने क्या किया?

इस श्लोक में 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' की व्याख्या आवश्यक है। कुरुक्षेत्र उस स्थान का नाम था जहाँ महाभारत का युद्ध हुआ। धृतराष्ट्र ने उसके आगे

'धर्मक्षेत्र' विशेषण लगाया है। कुरुक्षेत्र में देवताओं ने और राजा कुरु ने भी तपस्या की थी इसलिए इसे धर्मभूमि माना गया। वह केवल युद्ध भूमि ही नहीं वरन् तीर्थभूमि भी थी जहां प्राणी का कल्याण होता है। हमारी संस्कृति ऐसी विलक्षण है कि प्रत्येक कार्य धर्म को सामने रखकर किया जाता है। हमारे हर उत्सव के साथ पूजा का विधान है। हम हर मांगलिक कार्य, जैसे जन्मदिवस, गृहप्रवेश आदि भी धर्मिक अनुष्ठान के साथ करते हैं। युद्ध जैसा अप्रिय कार्य भी धर्मभूमि तीर्थभूमि में किया गया ताकि वीरगति प्राप्त करने वालों का उद्धार हो जाए। युद्ध भी निश्चित नियमों के अन्तर्गत होते थे और धर्मयुद्ध कहलाते थे। यह बात और है कि दुर्योधन की लोलुपता ने महाभारत के युद्ध में धर्म की सभी परम्पराओं को ताक में रख दिया। जिसका भीषण परिणाम समाज को झेलना पड़ा।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे के वर्णों को उलट-पुलट कर पढ़ें तो इसमें गीता का सार आ जाता है-'क्षेत्रे क्षेत्रे धर्म कुरु।' हर व्यक्ति को अपने क्षेत्र में स्वधर्म का पालन करना चाहिए- गीता का यह दिव्य संदेश इस प्रथम श्लोक में व्यास जी ने छिपा कर रख दिया है।

यह धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र हमारा अपना ही शरीर और मन है जहां निरन्तर युद्ध चल रहा है- सद्प्रवृतियों तथा दुष्प्रवृतियों में, अच्छाई तथा बुराई में, सद्गुणों तथा अवगुणों में, श्रेय और प्रेय में तथा धर्म और अधर्म में। पाण्डव धर्म के प्रतीक हैं और कौरव अधर्म के। पाण्डव मात्र पांच हैं, उनके पास सेना भी कम है। कौरव सौ हैं। उनकी सेना गिनती में भी अधिक हैं तथा अधिक सुसज्जित भी है। मनुष्य के हृदय में भी अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के विचार रहते हैं। अच्छे विचार श्रेय का मार्ग दिखाते हैं जो कल्याणकारी हैं। बुरे विचार प्रेय का मार्ग दिखाते हैं जो इन्द्रियजनित सुख की चकाचौंध में ले जाते हैं। इन दोनों के बीच दिग्भ्रमित सा मानव मन, किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन की भांति खड़ा रहता है। सद्प्रवृतियों की संख्या कम है, उनकी आवाज भी क्षीण है और दुष्प्रवृतियां उसे जोर से पुकारती हैं। ऐसे ही समय आवश्यकता पड़ती है- भगवान की शरणागति की, गीता के उपदेश की।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

हे राजन्! उस समय व्यूह में खड़ी हुई पाण्डव सेना को देख कर आचार्य द्रोण के पास जा कर दुर्योधन ने ये वचन कहे –

पश्यैतां पाण्डुपुत्रणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रण तव शिष्येण धीमता।।३।।

हे आचार्य, आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपद पुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा व्यूह रचना से खड़ी की हुई पाण्डवों की इस विशाल सेना को देखिए।

दुर्योधन अब तक इसी कल्पना में डूबा हुआ था कि पाण्डव उसकी विशाल सेना का सामना नहीं कर पाएंगे, किन्तु युद्धभूमि में सामने पाण्डव सेना को देखकर उसका आत्मविश्वास डोल गया और उसके मन में आशंकाओं के काले बादल घुमड़ने लगे। यह स्वाभाविक है, क्योंकि जब हम कुकर्म पर उतरे हुए होते हैं तो अपना काम बन जाने पर मिलने वाले सुख की आशा हमें उत्साहित करती रहती है। पर मन में एक चोर बैठा रहता है। चोरी करके जाते हुए व्यक्ति को यही लगता रहता है कि सारे लोग उसे ही देख रहे हैं।

दुर्योधन भी पाण्डवों को देख कर आशंकित हो उठा। अधिक उत्तेजित होने पर हम किसी का सहारा तलाशते हैं, उससे बात करके अपने आप को हल्का महसूस करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे में हमारे चित्त की अस्थिरता और चंचलता शब्दों में प्रकट हो जाती है।

यहां भी दुर्योधन अपने डगमगाते आत्मविश्वास के लिए संबल खोजने आचार्य द्रोण के पास दौड़ा लेकिन उसके शब्दों में उसकी उत्तेजना झलकती है जबकि उनमें गुरु के प्रति आदर होना चाहिए था। वे गुरु ही नहीं, इस समय उसकी सेना के नायक भी हैं।

पाण्डवों का सेनापति राजा द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न था। उसका जन्म द्रोण के विनाश के लिए ही हुआ था किन्तु शस्त्र विद्या द्रोणाचार्य ने ही सिखाई

थी। आज वही शिष्य अपने पूरे कौशल के साथ सेना सुसज्जित कर सामने खड़ा था। इस प्रकार 'द्रुपद पुत्र' और 'तव शिष्य' का प्रयोग कर दुर्योधन ने द्रोणाचार्य पर ही पहला बाण चलाया है - व्यंग्य का। धीमता शब्द के प्रयोग से पता चलता है कि दुर्योधन यह समझता था कि धृष्टद्युम्न केवल द्रोण शिष्य और द्रुपद पुत्र होने के कारण ही विशिष्ट नहीं, स्वयं भी बुद्धिमान है। इस प्रकार परोक्ष रूप से उसके कहने का अर्थ है कि शिष्य गुरु से भी अधिक निपुण है।

दुर्योधन का डूबता आत्मविश्वास और डोलता मन पाण्डवों के सेना के एक-एक महारथी को गिन कर आशंकित हो रहा है। वह द्रोणाचार्य के सामने ही सबको इंगित करते हुए कहता है-

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः।।५।।
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।६।।

यहां (पाण्डवों की सेना में) बड़े-बड़े शूरवीर हैं जिनके बहुत बड़े-बड़े धनुष हैं तथा जो युद्ध में भीम और अर्जुन के समान हैं। उनमें युयुधान (सात्यकि) राजा विराट और महारथी द्रुपद भी हैं। धृष्टकेतु और चेकितान तथा पराक्रमी काशिराज भी हैं। पुरुजित और कुन्तिभोज- ये दोनो भाई तथा मनुष्यों में श्रेष्ठ शैव्य भी हैं। पराक्रमी युधामन्यु और उत्तमौजा भी हैं। सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) तथा द्रौपदी के पांचों पुत्र भी हैं और ये सबके सब महारथी हैं।

पाण्डव सेना के महारथियों के नाम गिनते हुए दुर्योधन अन्दर ही अन्दर बहुत घबरा गया। अपने टूटते मनोबल को सहारा देने के लिए अब अपनी सेना के वीरों पर ध्यान केंद्रित करने का प्रयास करते हुए आचार्य से कहा-

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते।।७।।

हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! हमारे पक्ष में भी जो प्रमुख योद्धा है, उन पर भी ध्यान दीजिए। आपकी जानकारी के लिए मेरी सेना के जो नायक हैं उनके नाम मैं कहता हूं।

यहां संज्ञार्थं शब्द का प्रयोग दुर्योधन ने किया है जिसका अर्थ है 'आपकी जानकारी के लिए', मानों आचार्य को अपनी ही सेना के वीरों के नाम मालूम न हों। दुर्योधन के इन शब्दों से उसका अविश्वास झलकता है। जिनकी भावना अशुद्ध होती है, उन्हें सदा ही अपने साथियों की निष्ठा पर संदेह होता रहता है और अविवेकपूर्ण बातें कहकर वे अपने मित्र गवां देते हैं।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।।८।।

आप और पितामह भीष्म, कर्ण और संग्राम विजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा।

यहां इन शूरवीरों का नाम लेने में दुर्योधन का यह अभिप्राय मालूम होता है कि हमारे पक्ष में ऐसे-ऐसे योद्धा हैं जो पाण्डव सेना में भी नहीं है। हमारी सेना में तो अश्वत्थामा के समान चिरंजीवी योद्धा हैं इसलिए डरने की कोई बात नहीं। इस प्रकार वह अपने ही लड़खड़ाते चित्त को स्थिरता प्रदान करने का प्रयास कर रहा है। इसी क्रम में वह आगे कहता है-

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।।९।।

इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से शूरवीर है जिन्होंने मेरे लिए जीने की

इच्छा त्याग दी है, जो अनेक प्रकार के शस्त्र चालन में निपुण हैं तथा ये सभी युद्ध कला में प्रवीण है।

इस प्रकार अपनी सेना के महावीरों, वीरों की क्षमता व उनकी निष्ठा आंकने पर दुर्योधन को कुछ ढांढ़स तो बंधता है लेकिन अस्थिर चित्त का क्या भरोसा? वह तो एक-एक क्षण ऊपर नीचे होता रहता है। दुर्योधन की डांवाडोल मन:स्थिति उसके आगे के शब्दों में पुन: झलकने लगती है। अन्यायी-पापी क्या कभी निर्भय होकर सुख-शान्ति से रह सकता है? दुर्योधन कहता है-

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।१०।।

भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना अपर्याप्त है तथा भीम द्वारा रक्षित पाण्डव सेना पर्याप्त है।

इस श्लोक में व्यास जी ने अपर्याप्त और पर्याप्त शब्द का बहुत सुन्दर उपयोग किया है। कौरव सेना अपर्याप्त यानी असीमित तो थी किन्तु दुर्योधन को लगता है कि वह पाण्डवों का सामना करने लिए अपर्याप्त यानी नाकाफी है।

उसे अपनी सेना अपर्याप्त इसलिए भी जान पड़ती है, क्योंकि सेना के रक्षक भीष्म पितामह थे जो उभयपक्षपाती समझे जाते थे। दूसरी और पाण्डव सेना पर्याप्त अथवा सीमित तो है पर वह अपनी रक्षा करने के लिए पर्याप्त यानी काफी है। उस सेना का रक्षक भीम है।

यहां दुर्योधन ने पाण्डव सेना के संरक्षक के रूप में अर्जुन का नाम न लेकर भीम का नाम लिया है क्योंकि भीम से उसके मन में सदा से एक डर बैठा हुआ है। भीम बचपन से ही उसे पराजित करता आया है इसलिए दुर्योधन को लगता है कि पाण्डवों की शक्ति अधिक है। अब दुर्योधन अपनी सेना के सभी महारथियों से कहता है-

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

आप सबके सभी अपनी-अपनी जगह दृढ़ता से स्थित रहते हुए ही पितामह भीष्म की चारों ओर से रक्षा करें ।

गुरु द्रोणाचार्य के समक्ष दुर्योधन ने जो प्रलाप किया उसका उत्तर एक ठंडी चुप्पी से मिला क्योंकि आचार्य को निश्चित रूप से अच्छा नहीं लगा होगा, किन्तु युद्ध सर पर था इसलिए मौन रहकर अपने क्रोध को दबा गए होंगे। अब दुर्योधन क्या करे? उसने सभी महारथियों को भीष्म की रक्षा करने का आदेश दिया। यह भी उचित नहीं था, क्योंकि नायक होने के नाते महारथियों को आदेश देना आचार्य का काम था।

दुर्योधन पितामह की रक्षा के लिए ही इतना चिंतित क्यों था? इसलिए नहीं कि वे पूज्य और वृद्ध थे बल्कि इसलिए कि वह अच्छी तरह जानता था कि जो सेना उसके ध्वज तले लड़ने को खड़ी हुई है वह उसके सम्मान में नहीं, पितामह के प्रभाव से खड़ी है। पितामह के बिना उसका साथ देने कुछ मुट्ठी भर लोग ही आते।

पितामह वहीं खड़े दुर्योधन की बातें सुन रहे थे, आचार्य की मौन प्रतिक्रिया भी देख रहे थे और समझ रहे थे कि ऐसा संभाषण अधिक देर तक चला तो अच्छा नहीं होगा। युद्ध के आरम्भ में ही दुर्योधन का हतोत्साहित होना ठीक न जान उन्होंने उसके उपचार के लिए क्या किया-

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्।।१२।।

दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए कुरुवृद्ध एवं प्रतापी पितामह भीष्म ने सिंह के समान गरज कर जोर से शंख बजाया।

दुर्योधन का ध्यान हटाना बहुत आवश्यक था इसलिए पितामह ने उसके हृदय में युद्ध के लिए उत्साह उत्पन्न करने हेतु जोर से शंख बजाया। यद्यपि

पितामह को शंख बजाने का कार्य दुर्योधन के उत्साहवर्द्धन के लिए करना पड़ा किन्तु इसी शंखनाद के साथ युद्ध की विधिवत् घोषणा हो गई और भारत के इतिहास में कौरव सदा के लिए आक्रमणकारी बन गए।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

उसके बाद शंख, भेरी, ढोल, मृदंग और नरसिंह बाजे एक साथ बज उठे। उनका सम्मिलित शब्द बहुत भयंकर हुआ।

कौरव सेना के सभी नायकों ने पितामह की शंखध्वनि को युद्ध की घोषणा माना। वे सभी अपने-अपने वाद्य बजाने लगे जिससे आकाश में भयंकर ध्वनि बज उठी।

यहां तक तो संजय ने धृतराष्ट्र के पुत्रों के बारे में बताया था। अब आगे बताते हैं कि पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया।

ततः श्वतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैवदिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।।१४।।

उसके बाद सफेद घोड़ों से युक्त महान रथ पर बैठे भगवान श्रीकृष्ण तथा पाण्डु पुत्र अर्जुन ने दिव्य शंखों को जोर से बजाया।

कौरवों की ओर से शंख निनाद द्वारा युद्ध की विधिवत् घोषणा हो चुकी थी। पाण्डवों को भी इसका उत्तर तो देना ही था। इसी प्रत्युत्तर में श्री कृष्ण तथा अर्जुन ने अपने-अपने शंख बजाए।

कौरव सेना के प्रमुख थे भीष्म, अतः उसका पहले शंख बजाना उचित था। इसका उत्तर पाण्डव सेना के सेनापति धृष्टद्युम्न को देना चाहिए था। श्रीकृष्ण तो एक सारथि थे। किन्तु पाण्डव सेना में पहला शंख उन्होंने बजाया। इससे स्पष्ट होता है कि सेनापति कोई भी रहे, पाण्डव सेना में प्रमुख भगवान श्रीकृष्ण

ही थे। वे ही सबका संचालन करते थे, वे अर्जुन के रथ के सारथि नहीं बल्कि सम्पूर्ण सेना के सारथि थे। जब वे बालक थे तब भी ब्रज के बड़े-बूढ़े तक उन्हीं का कहा मानते थे। तात्पर्य यह है कि भगवान जिस किसी अवस्था में, जिस किसी स्थान पर, जहां कहीं भी रहते हैं, वे मुख्य ही रहते हैं। जो स्वयं छोटा होता है वह ऊंचे स्थान पर नियुक्त होने से बड़ा माना जाता है। अर्थात् साधारण व्यक्ति को तो उसका पद गौरव प्रदान करता है किन्तु असाधारण व्यक्ति तो स्वयं पद को गरिमायुक्त कर देते हैं। भगवान सारथि बने तो उसके कारण सारथि का पद भी ऊंचा हो गया।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ।।१५।।
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रौ युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।।१६।।
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक्।।१८।।

भगवान श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य, अर्जुन ने देवदत्त, भयानक कर्म करने वाले वृकोदर भीम ने पौण्ड्र, युधिष्ठिर ने अनन्त विजय, नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाए।

काशीराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट,अजेय सात्यकि, द्रौपदी के पांचों पुत्र, महाबाहु अभिमन्यु, इन सभी ने सब ओर से अपने-अपने शंख बजाए।

पांडव सेना के शंखनाद का कौरवों पर क्या असर हुआ, यह बताते हुए संजय कहते हैं-

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।१९।।

पांडव सेना के शंखों के उस भयंकर शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी गुंजाते हुए धृतराष्ट पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिए।

संजय ये बातें धृतराष्ट को सुना रहे हैं। उन्हीं के सामने यह कहना कि धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय विदीर्ण हो गए कुछ असभ्यतापूर्ण लगता है। यहां धृतराष्ट्र शब्द द्विअर्थक है जिसका संजय ने बहुत चतुराई के साथ प्रयोग किया है। संजय की भाषा में हर स्थान में शिष्टता तो है पर उसमें मर्म में जाएं तो भगवान श्रीकृष्ण तथा पाण्डवों के प्रति तो आदर का भाव था तथा कौरवों के प्रति केवल बाहरी शिष्टाचार है। वे धृतराष्ट्र को राजन् और भगवान को महायोगेश्वर कहते हैं। उनका प्रयत्न कुछ इस प्रकार का है कि अब भी धृतराष्ट्र अपनी भूल और अवश्यम्भावी विनाश को समझ लें और युद्ध रोक दें।

धृतराष्ट्र का बहुब्रीहि समास करने पर अर्थ होता है- जिन्होंने अन्यायपूर्वक राज्य को धारण किया उसे धृतराष्ट्र कहते हैं। इस प्रकार संजय कहते हैं कि जिन्होंने अन्यायपूर्वक राज्य को हड़पा उनके हृदय विदीर्ण हो गए।

एक प्रश्न और उठता है-कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना का शंख निनाद सुनकर पाण्डव सेना तो उत्साहित हो गई किंतु पांडवों की मात्र सात अक्षौहिणी सेना का निनाद सुनकर कौरव क्यों घबरा उठे? इसका उत्तर भी 'धार्तराष्ट्राणां' के अर्थ में निहित है। उन्होंने राज्यबल छल पूर्वक हड़पा था इसलिए उनका दिल घबरा उठा।

यह अत्याचार करने वाले और भोगने वाले का स्वाभाविक मनोविज्ञान है। अत्याचारी जब तक बलशाली रहता है उसे अत्याचार में आनन्द आता है और वह अपनी शक्ति और चतुराई तथा धूर्तता पर इतराता रहता है। वह समझता है कि पीड़ित व्यक्ति उसका कभी कुछ नहीं बिगाड़ सकता इसलिए उसे वह चुनौती देता रहता है-'कर लो क्या कर सकते हो।'

जो पीड़ित होता है वह लम्बे समय तक भोगता रहता है पर उसके अन्दर विद्रोह तथा आक्रोश की भावना जड़ जमाती रहती है। एक समय आता है जब उसका हृदय किसी अन्याय को स्वीकार करना बन्द कर देता है और वह अवसर पाकर संघर्ष पर उतर जाता है। इसके बाद दुश्मन द्वारा दी गई चुनौती से वह घबराता नहीं। एक बार संघर्ष की ठान लेने के बाद हर चुनौती मानो उसे पुकारती है और उसके हृदय में उत्साह भरती है।

दूसरी और अन्यायी जब देखता है कि जिसे वह दुर्बल समझ कर सताता रहा है अब वह उसकी टांग खींचने ही नहीं, उसे काट डालने पर उतारू हो गया है तब उसका दिल घबरा जाता है। उसका अपराध बोध उसे कहने लगता है-'अब हो गए तुम्हारे दिन पूरे, अब तुम बच नहीं सकते।'

दुर्योधन ने भी पाण्डवों को कमजोर समझा था क्योंकि चौदह वर्ष तक वे निरन्तर उसका अत्याचार झेलते रहते थे। आज उन्हें प्रत्युत्तर में शंख बजाते देख उसे अपना विनाश निकट नजर आने लगा, इससे उसका हृदय विदीर्ण हो उठा।

अब संजय गीता की भूमिका पर आते हैं-

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।२०।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

हे महीपते धृतराष्ट्र, शस्त्र चलाने को तैयार अन्याय पूर्वक राज्य को धारण करने वालों को व्यवस्थित रूप से खड़े देखकर कपिध्वज पाण्डुपुत्र अर्जुन ने अपना धनुष उठा लिया और भगवान श्री कृष्ण से ये वचन कहे

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे।।२२।।

हे अच्युत, दोनों सेनाओं के बीच मेरे रथ को आप तब तक खड़ा कीजिए जब तक मैं युद्ध की इच्छा वालों को देख न लूं कि इस युद्ध रूपी उद्योग में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना है।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।०३।।

दुष्ट बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में प्रिय करने की इच्छा वाले जो लोग यहां आए हैं, युद्ध के लिए उतावले हुए इन सबको मैं देख लूं।

यह वाक्य कहने तक अर्जुन अपने स्वाभाविक क्षात्र रूप में है जिसे दुर्योधन अपना भाई नहीं बल्कि दुष्ट बुद्धि वाला और अन्यायी लगता है। उसके साथ खड़ी सेना अर्जुन के सगे संबंधियों की नहीं बल्कि अत्याचारी के संगियों की है। इनसे युद्ध करने के लिए तथा इनका समूल अन्त कर न्याय और सदाचार की स्थापना के लिए उसने गाण्डीव पहले ही उठा रखा है। वह भगवान को रथ बीच खड़ा करने इसलिए नहीं कहता कि वे उसके प्रिय दादा, मामा आदि सगे संबंधी हैं जिनको वह एक बार नजर भरके देख लेना चाहता है, वह तो अब तक यह समझ रहा है कि सब अन्यायी हैं और क्षत्रिय होने के नाते पहले उसे देखना होगा तथा जांच-परख करना होगा कि अन्याय का साथ कौन दे रहा है। उसी के अनुसार उसे अपनी रणनीति बनानी होगी।

अर्जुन की बात सुनकर भगवान ने क्या किया यह अगले श्लोकों में बताते हैं-

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।२४।।
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति।।२५।।

हे भरतवंशी राजन्, अर्जुन के द्वारा इस तरह कहने पर श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के मध्य भाग में भीष्म द्रोण तथा सम्पूर्ण राजाओं के सामने उत्तम रथ को खड़ा कर दिया और बोले, 'हे पार्थ, इन इकट्ठे हुए कुरुवंशियों को देख।'

महाभारत का युद्ध कुरुक्षेत्र में लड़ा गया था जो अत्यन्त विशाल था। निश्चित रूप से दोनों सेनाओं के मध्य की रेखा भी अत्यन्त लम्बी होगी। सभी योद्धा पंक्तिबद्ध उस रेखा के आरपार खड़े थे। भगवान चाहते तो अर्जुन के रथ को दुर्योधन के सामने खड़ा कर सकते थे या दु:शासन अथवा शकुनि के सम्मुख रोक सकते थे। अर्जुन के हृदय में लगे घाव तत्क्षण हरे हो जाते और उसका गाण्डीव मचलने लगता। फिर तो अर्जुन एक क्षण के लिए भी विलम्ब करने को तैयार नहीं होता और युद्ध आरम्भ हो जाता। लेकिन भगवान जानबूझकर रथ को पितामह और आचार्य द्रोण के सामने खड़ा करते हैं ताकि अर्जुन अपनी मनोभावनाओं का विश्लेषण पहले ही कर सके। वे चाहते हैं कि अर्जुन अपने मोह को पहचाने, फिर उसका निराकरण हो और उसके बाद ही युद्ध किया जाये ताकि भविष्य में ग्लानि और अपराध बोध की स्थिति न आए।

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।।२६।।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

उसके बाद पार्थ ने उन दोनों ही सेनाओं में खड़े पिताओं, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, श्वसुरों तथा सुहृदों को भी देखा।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अपनी-अपनी जगह पर स्थित उन सभी बान्धवों को देखकर अर्जुन ने अत्यन्त कायरता से युक्त होकर विषाद करते हुए ये वचन कहे-

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।२८।।
सीदन्ति मम गात्रणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।२९।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।३०।।

अर्जुन ने कहा – हे कृष्ण, युद्ध की इच्छा वाले इन स्वजनों को उपस्थित देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, शरीर में कंपकंपी हो रही है। रोंगटे खड़े हो रहे हैं, हाथ से गांडीव गिर रहा है और त्वचा भी जल रही है। मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है और मैं खड़े होने में भी असमर्थ हूं।

यहीं से अर्जुन का विषाद आरम्भ हो रहा है। अभी तक वह विपक्षी सेना को दुर्बुद्धि, अन्याय पूर्वक राज्य हड़पने वाले आदि विशेषणों के साथ सम्बोधित कर रहा था किन्तु अब उसने स्वजन शब्द का प्रयोग किया है। उन्हीं अन्यायी या अन्याय का साथ देने वालों में उसे अपने पितामह, आचार्य, मामा, भाई, बन्धु आदि नजर आ रहे हैं, उसे सब अपने लगते हैं और दृष्टिकोण का यही फेर उसे कमजोर बना देता है। अन्यायी मान जहां उनके विनाश के लिए उसकी भुजाएं फड़कने लगती थी, स्वजन मानने से उसके अंग शिथिल हो रहे हैं। बाहरी जगत वही है, केवल दृष्टिकोण का फेर हममें कितना बड़ा परिर्वतन ला देता है! जिस अवसर की प्रतीक्षा और तैयारी में उसने अब तक का जीवन बिताया था वही अवसर सामने आने पर उसकी हिम्मत जवाब देने लगती है, उसका संतुलन डगमगा जाता है, कितनी विचित्र अवस्था है यह!

अर्जुन अपने जो लक्षण बताता है, आधुनिक मनश्चिकित्सक इन सबको डिप्रेशनग्रस्त व्यक्ति के लक्षण बताएगा। यह अवस्था जीवन में हर एक की होती है। अन्याय से लड़ने के लिए तो वीरता, साहस और सूझबूझ आदि गुणों की ही आवश्यकता होती है लेकिन अन्यायी यदि स्वजन हो तो उसके

मोह के आगे ये सारे गुण पानी पानी हो जाते हैं। अन्याय से लड़ना आसान है किन्तु मोह से लड़ना कठिन है।अन्याय बाहरी अवस्था है, मोह आन्तरिक। मोह किसी भी शत्रु से बड़ा शत्रु है क्योंकि इसे जीत पाना सम्भव ही नहीं। अन्याय का स्मरण तो प्रतिकार की भावना को जगा कर हमें साहसी बनाता है किन्तु स्व का, ममत्व का भाव उसकी सारी शक्ति निचोड़कर खड़े होने लायक भी नहीं छोड़ता। ऐसे में हमें कुछ पता नहीं चलता कि हमें क्या करना चाहिए।

भगवान तो सर्वसमर्थ हैं। अर्जुन के सबसे बड़े हितैषी और सुहृद भी हैं। सुहृद वह होता है होता है जो विपत्ति में साथ दे। साधारण साथी तो छोटे-मोटे संकट में ही साथ देते हैं किन्तु जो सबसे अधिक हितैषी और सबसे अधिक शक्तिवान होता है वह सबसे बड़े शत्रु का नाश करने के लिए हमें शक्ति प्रदान करता है।

भगवान इतने शक्तिवान थे कि एक पल में सुदर्शन चक्र के द्वारा सारे अन्यायियों का खात्मा कर सकते थे। अर्जुन सोच भी नही पाता कि मैं स्वजनों को मारूं या न मारूं। पर उन्होंने अर्जुन को उनके विरुद्ध बल तो क्या दिया, अपनी सेना तक को विपक्ष में खड़ा कर दिया उसके शत्रुओं को और बलवान बनाने के लिए। स्वयं अर्जुन के साथ रहे भी तो इस प्रतिज्ञा के साथ कि शस्त्र नहीं उठाएंगे।

ऐसा इसलिए कि उन्हें अर्जुन के सबसे बड़े शत्रु को मारना था और उसी के माध्यम से धरती के करोड़ों-करोड़ों मोहग्रस्त, दिग्भ्रमित और किंकर्त्तव्यविमूढ़ मानव को उचित अनुचित का बोध करना था।

जब मनुष्य इस स्थिति में होता है कि विरोध करने, संघर्ष करने, लड़ने की इच्छा तो रखे किन्तु किसी कारण से प्रतिकार करने में स्वयं को असमर्थ पाए तो उसकी जो अवस्था होती है उसे विषाद कहते हैं। महाभारत के युद्ध के पहले अर्जुन को भी यही हुआ। इस अवस्था के और लक्षण भी हम आगे देखेंगे। मन की इस अवस्था को हम अर्जुन रोग कहेंगे। जिसका कृष्ण निदान ही गीता है। अर्जुन रोग के और लक्षण आगे के श्लोक में दीखते हैं-

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।३१।।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।३०।।

हे केशव मुझे विपरीत शकुन भी दिखाई दे रहे हैं और युद्ध में स्वजनों को मारकर कोई लाभ भी नहीं समझ में आता। हे कृष्ण, न तो मैं विजय चहता हूं, न राज्य, न सुख। हमलोगों को राज्य भोग और जीवन से क्या लाभ?

मानव मन का यह स्वभाव है कि जब वह किसी चुनौती का सामना करने में अपने को असमर्थ पाता है तब अपनी कमजोरी को छुपाने के लिए भांति-भांति के तर्कों का सहारा लेता है। रुढ़िवादिता, पोंगापंथ और अंधविश्वास का सहारा ढूंढ़ कर वह अपने को बचाने की कोशिश करता है। यहां अर्जुन भी यह स्वीकार नही करता कि उसका मन जो अब तक युद्ध के लिए मचल रहा था अब हठात् कमजोरी का शिकार हो गया है, बल्कि तर्क देता है कि उसे अशुभ लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। इस प्रकार की लचर दलीलों के बाद वह अपनी कमजोरी को भी महिमामंडित करते हुए बताता है कि युद्ध, विजय, राज्य और सुख में लाभ कुछ नहीं।

राज्य सुख में लाभ क्यों नहीं? अर्जुन अपना तर्क प्रस्तुत करता है-

येषामर्थे काक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्रणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।३३।।

हम जिनके लिए राज्य भोग और सुख की इच्छा रखते हैं वे ही सब धन और प्राणों की आशा त्याग कर युद्ध में खड़े हैं।

गीता जीवन का विज्ञान है, यह हमें सफल व धर्मयुक्त जीवन की कला सिखाती है। जीवन की सफलता-असफलता विशेष रूप से मन पर निर्भर है। अतः जीने की कला के लिए पहले मन के तौर-तरीके, गुण-दोष आदि

समझना बहुत आवश्यक है, तभी हम इसे साध पाएंगे। अर्जुन की स्थिति के माध्यम से मानव मन की दुर्बलताओं का चित्रण बहुत सूक्ष्म से किया गया है। मन जब घबरा उठता है तब निर्बल हो जाता है लेकिन मनुष्य, विशेष कर ऐसा जो लोगों के बीच शौर्य और साहस की प्रतिमूर्ति समझा जाए, अपनी दुर्बलता को स्वीकार नहीं करता, अपनी कमजोरी को अपनी महानता बताने लगता है। कपटी मनुष्य तो यह काम जान-बूझकर अपना स्वार्थ साधने के लिए करता है, वह अच्छी तरह जानता है कि मैं जो बोल रहा हूं वह सत्य नहीं है, लेकिन साधारण व्यक्ति का मन ही उसके साथ कपट करता है और वह स्वयं समझ भी नहीं पाता। उसे लगता है कि उसका मन ठीक ही कह रहा है, वह और अधिक घबरा उठता है, अपने शरीर, मन, बुद्धि पर उसका संयम खत्म हो जाता है, शरीर कांपने लगता है, मन भ्रमित लगता है, बुद्धि किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाती है। यहां भी अर्जुन को यही लगता है कि युद्ध करना पाप होगा क्योंकि युद्ध हम अपने कुटुम्बीजनों के सुख आदि के लिए करते हैं, और वे ही न रहेंगे तो जीवन का क्या प्रयोजन? यहां एक बार पुनः अर्जुन के मोहग्रस्त होने का परिचय मिलता है। वास्तव में क्षत्रिय युद्ध इसलिए करता है कि अन्याय, अत्याचार और शोषण का अंत हो, आततायियों को दंड मिले, प्रजा निर्भय हो, धर्म की स्थापना हो, किन्तु मोहग्रस्त अर्जुन अपने अब तक के इन सारे आदर्शो को भूल कर समझने लगता है कि युद्ध तो कुटुम्बीजनों के लिए किया जाता है। इस प्रकार मन के विमोहित होने पर वह ऐसी ही बातें और अधिक सोचता जाएगा और हिस्टीरिया के दौरे के अधिक से अधिक गंभीर लक्षण हमें उसके व्यक्तित्व में दिखाई देंगे। ऐसे रोगी का अगला लक्षण है प्रलाप। वह अपने ही मन द्वारा दिखाई गई इन संभावनाओं से इतना अधिक घबरा जाता है कि बिना रुके, बिना सुनने वाले की प्रतिक्रिया जाने बोलता ही चला जाता है। अगले कुछ श्लोकों में अर्जुन की स्थिति यही है।

आचार्याः पितरः पुत्रस्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।३४।।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।३५।।

गुरुजन, ताऊ, चाचे, पुत्र और पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले तथा और भी संबंधी लोग हैं जिन्हें मारने की इच्छा मैं नहीं रखता, चाहे वे ही मुझे मारते हों। मैं तीन लोक के राज्य के लिए भी इन्हें मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी का तो कहना ही क्या है।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।।३६।।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३७।।

हे जनार्दन, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मार कर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियों को मार कर भी हमें पाप ही लगेगा। अपने कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे? इसलिए हे माधव! हम अपने बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के योग्य नहीं हैं।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।३८।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।३९।।

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुल के क्षय के कारण पैदा हुए दोष और मित्र द्रोह से उत्पन्न पाप को नहीं देख रहे।

परन्तु हे जनार्दन, कुल के नाश से होने वाले दोष को जानने वाले हमलोगों को इस पाप से हटने का विचार क्यों नहीं करना चाहिए?

कुल के नाश से क्या दोष उत्पन्न होते हैं यह भी भगवान श्री कृष्ण को समझाते हुए अर्जुन आगे कहता है–

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।४०।।

कुल के नाश होने से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म के नाश होने से सम्पूर्ण कुल को पाप भी बहुत दबा लेता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।।४१।।

अधर्म के बढ जाने से कुल की स्त्रियां दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर पैदा होता है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४०।।

वह वर्णसंकर कुलघातियों और कुल को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। पिण्ड और जल की क्रिया लुप्त हो जाने के कारण पितरों का पतन होता है।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४३।।

इन वर्णसंकर कारक दोषों से कुलघातियों के कुलधर्म और जाति धर्म दोनों नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४४।।

हे जनार्दन, नष्ट हुए कुल धर्म वाले मनुष्यों का अन्तकाल तक नरक में वास होता है ऐसा हमने सुना है।

उपरोक्त श्लोकों में अर्जुन ने जो तर्क दिए हैं वे सब वेदों के कर्मकाण्ड के अनुसार है। वैदिक कर्मकाण्ड में मनुष्य के मोक्ष का उपाय नहीं बल्कि स्वर्ग, नर्क आदि की परिकल्पना के द्वारा मनुष्य को विभिन्न कर्म करने के निर्देश दिए गए हैं। इसके अनुसार किसी के मृत्यु के बाद ऊंचे लोक में ले जाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका पुत्र विधिपूर्वक पिण्ड दान करे। व्यभिचार से उत्पन्न सन्तान किसका पिण्डदान करेगी? इन विचारों की जड़ अर्जुन के मन में भी गहरी जमी हुई थी। अतः उसके मन ने युद्ध से बचने के लिए एक और तर्क प्रस्तुत कर दिया। जिसे वह इन श्लोकों में कहता है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४५।।

अहो! यह बड़े शोक की बात है कि हम महान पाप करने को तैयार हो गए हैं कि राज्य और सुख के लोभ से स्वजनों को मारने उद्यत हुए हैं।

सारे तर्क देने के बाद अंत में अर्जुन आश्चर्य और शोक प्रकट करता है कि वे लोग युद्ध के के लिए तैयार कैसे हुए! आश्चर्य इसलिए कि अर्जुन समझता था दुर्योधन तो है ही मतिभ्रष्ट, वह सदा से ही अन्यायी और राज्यपिपासु रहा है किन्तु पाण्डव तो धर्म के पक्षपाती रहे हैं, फिर उनमें ऐसा महान पाप करने की प्रवृति कैसे आई!

दुःख इसलिए कि वह समझता है कि इस प्रवृत्ति का कारण है लोभ। राज्य और सुख के लोभ ने ही उन्हें युद्ध भूमि में ला खड़ा कर दिया है और इस विचार से उसे बड़ी ग्लानि होती है।

अर्जुन की दृष्टि हर स्थान पर युद्ध रूपी क्रिया पर है। वह युद्ध रूपी क्रिया को दोषी मानकर उससे हटना चाहता है। वास्तव में कोई भी क्रिया अपने आप में पुण्य या पाप नहीं होती। उसे पाप या पुण्य बनाती है उसके पीछे की भावना। एक व्यक्ति दूसरे के पेट पर छुरा चला देता है, एक सर्जन पेट पर छुरी चलाता है–आपरेशन के लिए, हो सकता है दोनों ही केस में

उन व्यक्तियों की मृत्यु हो जाए किन्तु क्या डाक्टर ने पाप कर्म किया? उसे समाज अपराधी नहीं मानता क्योंकि उसका उद्देश्य रोगी की हत्या करना नहीं बल्कि उसके कष्ट को दूर करना था। कानून भी हत्या के केस पर फैसला देता है तो इस बात पर बहुत महत्व दिया जाता है कि हत्या के पीछे मकसद क्या था, स्वार्थ के लिए सोच समझकर योजना बनाकर हत्या की गई या क्षणिक आवेश में अथवा आत्म रक्षा के लिए। उसी के अनुसार मुजरिम की सजा निर्धारित की जाती है।

इसी प्रकार युद्ध रूपी क्रिया दोषपूर्ण नहीं लेकिन युद्ध में यदि कौटुम्बिक मोह, लोभ, सुख की लालसा आदि को महत्व दिया जाए तो वह निश्चय ही पाप है। अर्जुन को मोह ने ग्रस लिया है जिसके कारण उसे युद्ध में बुराई नजर आने लगी है, वह भूल गया है कि युद्ध का उसका वास्तविक उद्देश्य राज्य सुख नहीं बल्कि अत्याचार और दुराचार का अंत है। भगवान उसका मोह नष्ट कर यही याद दिलाने के लिए गीता का उपदेश देते हैं इसलिए गीता के अंत में अर्जुन कहता है 'नष्टो मोह:स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत:।'

दु:खी अर्जुन अगले श्लोक में अपने तर्कों का उपसंहार करता है-

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणय:।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।४६।।

यदि मुझ शस्त्र रहित, न सामना करने वाले को शस्त्रधारी धृतराष्ट्र पुत्र रण में मार दें तो वह भी मेरे लिए अति कल्याणकारी होगा।

विषाद और चिन्ता से ग्रस्त मनोरोगी के रोग की पराकाष्ठा होती है जीवन के प्रति अरुचि। जीवन की समस्याएं तथा क्या करें, क्या न करें का भ्रम उसे इतना सताने लगता है कि मरने में ही उसे कल्याण लगता है। अर्जुन भी प्रलाप करते-करते इस स्थिति में पहुंच चुका है। अब मरने के अलावा उसे कोई रास्ता नहीं सूझता इसलिए वह चाहता है कि युद्ध न करें, शस्त्र छोड़कर बैठ जाए और कौरव उसे मार डालें। यही उसका पलायनवाद था।

मनोरोगी जब मनश्चिकित्सक के पास पहुंचता है तो चिकित्सक का

पहला काम होता है रोगी को बोलने देना। श्रीकृष्ण भी पूरे अध्याय में अर्जुन की बातें चुपचाप सुनते आए हैं, उसके मन की सारी दमित कुंठाएं उभरती गई, वह बोलता गया और जब बोलते-बोलते थक गया तब उसने क्या किया यह संजय अगले श्लोक में धृतराष्ट्र को बताते हैं।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।।४७।।

रणभूमि में शोक से उद्विग्न मन वाला अर्जुन इस प्रकार कहकर वाण सहित धनुष को त्याग कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषाद योगो नाम प्रथमोऽध्यायः।।१।।

इस प्रकार ॐ तत् सत् - इन भगवान्नामों के उच्चारण पूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र मय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् रूप श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद में अर्जुन विषाद योग नामक प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ।

हर अध्याय के अंत में व्यास जी ने यह पुष्पिका लिखी है। ॐ, तत्, सत् ये परब्रह्म के तीन नाम हैं। अध्याय के पठन-पाठन में कोई भूल हुई हो तो उसके परिमार्जन के लिए ये नाम लिए गए हैं क्योंकि ये नाम कल्याणकारी हैं। गीता को ब्रह्म विद्या कहा गया है क्योंकि इसमें ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान है। यह योग शास्त्र है क्योंकि यह हमें ब्रह्म के साथ जुड़ने (योग का अर्थ है जुड़ना) की विद्या बताती है। वेद का भाग न होते हुए भी इसे उपनिषद् कहा गया है क्योंकि इसमें सब उपनिषदों का सार है। यह सारा ज्ञान श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

गीता में अठारह अध्याय हैं। हर अध्याय को एक योग का नाम

दिया गया है अर्थात् हर अध्याय हमें एक मार्ग बताता है जिसके द्वारा हम ब्रह्म से जुड़ सकें। पहले अध्याय का नाम है अर्जुन विषाद योग। यह साधना की पहली विधि है, गीता हमें बहुत खूबसूरती के साथ बताती है कि विषाद भी किस तरह योग हो सकता है।

प्रथम अध्याय का उपसंहार

गीता के प्रथम अध्याय को विषाद योग का नाम देना एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संकेत है। योग का अर्थ है परमात्मा से जुड़ना। इस अर्थ के अनुसार ज्ञानयोग का अर्थ ज्ञान के द्वारा परमात्मा से जुड़ना और भक्ति योग का अर्थ भक्ति के माध्यम से जुड़ना आदि समझ में आता है पर यह विषाद-योग क्या है?

हम साधारण संसारियों के पास ज्ञान नहीं, भक्ति नहीं, निस्वार्थ सेवा भाव नहीं, इन्द्रिय संयम नहीं किंतु निस्संदेह विषाद तो सबके जीवन में भरा पड़ा है। हममें से ऐसा कौन है जो जीवन की समस्याओं से तनाव ग्रस्त या दुखी न हो! हममें से कौन ऐसा हैं जो समय समय पर अर्जुन की भांति यह न सोचता हो कि मैं यह सब छोड़ छाड़ कर कहीं चल जाऊं तो अच्छा हो या सब मुझे जान से मार डालें तो पिंड छूटे। जीवन की सारी उठा पटक में जो मानसिक पूंजी हम एकत्र करते हैं वह विषाद ही तो है। नई यात्रा हमें शुरू करनी है तो हमारी यही पूंजी तो हमारे काम आएगी। जी हाँ, इस विषाद रूपी पूंजी का बड़ा सुंदर उपयोग हो सकता है- यही है विषाद-योग।

जीवन का विषाद जब जीव का मस्तक जगत्पिता के चरणों में झुका देता है तब वह विषाद विषाद-योग बन जाता है और उसी क्षण जीव की गाथा एक नया मोड़ ले लेती है। विषाद हम सबके जीवन में है पर उसका उपयोग होता है दूसरों के साथ घृणा या द्वेष पूर्ण व्यवहार करने या स्वयं को घुटा घुटा कर बीमार कर डालने में। क्यों न हम इस विषाद की भेंट ले कर भगवान के पास जाएँ-''प्रभु मेरे पास और कुछ नहीं बस यही है जिसे ले कर मैं आपकी शरण में आया हूँ।'' तब यही विषाद हमारे लिए कल्याणकारी

हो जाएगा और एक दिन अवश्य आएगा जब हम आज की बात याद करके सोचेंगें- ''कैसी कृपा की भगवान ने मुझ पर! यदि मुझे दुख नहीं मिलता तो मेरे जीवन की दिशा कैसे बदलती!''

एक बात और देखें- गीता के अठारह अध्यायों में अठारह विभिन्न योग हैं और पहला स्थान है विषाद योग का। यानि जब तक विषाद नहीं आता तब तक संसार से मन हटता भी नहीं कि उसे प्रभु के चरणों में झुकाया जा सके। विषाद के बिना वैराग्य नहीं आता। अपने विषाद को योग बनाना साधना का पहला सोपान है।

विषाद योग का अभी कुछ और परिचय हमें दूसरे अध्याय में भी मिलेगा। हम इस पर गम्भीरता से विचार करें। गीता के अध्ययन के साथ इसमें बताए गए निर्देशों पर अमल करने का प्रयत्न भी करते रहें।

सबसे पहला काम तो आज ही, अभी ही यह महत्वपूर्ण निर्णय लेना है कि यदि हम अपने जीवन से दुखी हैं तो इस दुख को संजोते हुए संसार में किट-किट करते नहीं रहना बल्कि इस दुख की निवृत्ति का उपाय खोजना और उस पर अमल करना है। तब हम आगे की बातों को जानने और समझने के योग्य बन पाएंगे। मनुष्य का दुर्भाग्य इस बात में नहीं कि ऐसी विपत्ति आती है कि वह विषादग्रस्त हो जाता है, दुर्भाग्य की बात तो यह है कि विषाद में भी वह उस अशरण शरण की शरणागति नहीं ग्रहण करता जो सदा उसके समीप हैं, उसकी सहायता के लिए उत्सुक हैं।

ॐ तत् सत्